
इकाई 3 अधिकार

इकाई की रूपरेखा

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 अधिकार : अर्थ और प्रकृति
 - 3.2.1 अधिकार, दावे और शक्तियाँ
 - 3.2.2 अधिकारों का अर्थ
 - 3.2.3 अधिकारों की प्रकृति
- 3.3 अधिकारों की परिकल्पनाएँ
 - 3.3.1 नैसर्गिक अधिकारों की परिकल्पना
 - 3.3.2 विधिसंगत अधिकारों की परिकल्पना
 - 3.3.3 अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना
 - 3.3.4 अधिकारों की समाज-कल्याण परिकल्पना
 - 3.3.5 अधिकारों की मार्क्सवादी परिकल्पना
- 3.4 अधिकारों का गठन (Framework)
 - 3.4.1 जनसाधारण के अधिकार
 - 3.4.2 लास्की की अधिकार-परिकल्पना
 - 3.4.3 मानवाधिकारों की परिकल्पना
- 3.5 सारांश
- 3.6 अभ्यास

3.1 प्रस्तावना

अधिकारों को सटीक रूप से उन सामाजिक दावों के नाम से पुकारा जाता है, जो व्यक्ति को उनके सर्वोत्तम स्वार्थ आदि सिद्ध करने में मदद करते हैं और उनको अपनी निजी पहचानों को विकसित में सहायता करते हैं। यदि लोकतंत्र को लोगों की सरकार बनना है, तो उसको उनके हितार्थ अस्तित्व बनाए रखना पड़ता है। इस प्रकार की लोकतांत्रिक सरकार यदि अपनी प्रजा हेतु अधिकारों की एक व्यवस्था कायम करती है, तो जन समाज की सर्वोत्तम सेवा कर सकती है। राज्य कभी अधिकार नहीं देते, वे केवल उन्हें मान्यता देते हैं; सरकारें कभी अधिकार प्रदान नहीं करतीं, वे सिर्फ उन्हें संरक्षण देती हैं। अधिकार समाज से, विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों से, उद्भूत होते हैं, और इसी कारण, हमेशा सामाजिक होते हैं। अधिकार व्यक्तियों के अधिकार होते हैं; वे व्यक्तियों से ही संबंध रखते हैं; वे व्यक्तियों के ही लिए अस्तित्व रखते हैं; इनका व्यवहार उनके द्वारा इसलिए किया जाता है ताकि वे अपनी निजी पहचानों का सम्पूर्ण विकासलाभ कर सकें।

3.2 अधिकार : अर्थ और प्रकृति

व्यक्तियों व राज्यों के बीच संबंध राजनीति-सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है; एक ऐसा प्रश्न जिसने युगों से राजनीति-दार्शनिकों को यदि उलझाया नहीं तो चकराया जरूर है। उन्होंने तर्क-वितर्क किया है कि कौन अधिक महत्वपूर्ण है - राज्य या व्यक्ति, और कौन किसके लिए किस बात का ऋणी है। ऐसे दार्शनिक हुए हैं, उदाहरणार्थ प्लेटो, जिनका मानना है कि राज्य अकेले ही न्याय प्रदान कर सकता है और व्यक्ति का काम है अपनी योग्यताओं व क्षमताओं से अपने कर्तव्यों को करने का भरसक प्रयास करे। हम इन दार्शनिकों को 'प्रत्ययवादी' कहते हैं। दूसरे भी हैं, उदाहरणार्थ जॉन लॉक, जो यह दृष्टिकोण रखते हैं कि राज्य साधन रूप में एक साध्य हेतु अस्तित्व में है, और यह साध्य है व्यक्ति, जिसका अर्थ यह हुआ कि वैयक्तिक अधिकार परमपावन और अलंघ्य हैं। यह तथ्य कि व्यक्ति अधिकार रखते हैं, आधुनिक युग की एक दृष्टघटना है जो कि 15वीं-16वीं शताब्दी के यूरोप में शुरू हुई। यह तथ्य कि ये अधिकार राज्य की निरंकुशता के विरुद्ध आश्वासन हैं और, इसीलिए, वे अपना आदिकारण समाज में रखते हैं, ऐसी बातें हैं जो सिर्फ आधुनिक युग में ही जानी गईं।

अधिकार व्यक्तियों से संबंध रखते हैं, और इसीलिए, वे राज्य के नहीं होते। अधिकार व्यक्तियों के अधिकार हैं, और इसीलिए, वे उनके विकासार्थ आवश्यक शर्तें हैं। अधिकार हमारे सामाजिक स्वभाव की ही उपज हैं, और इसी प्रकार, समाज-संबंधी हमारी सदस्यता का परिणाम भी।

3.2.1 अधिकार, दावे और शक्तियाँ

अधिकार वस्तुतः दावे हैं, परन्तु हर दावा अधिकार नहीं होता। कोई भी दावा अधिकार नहीं है, यदि वह मान्यताप्राप्त नहीं है; वह अधिकार भी नहीं कहलाएगा यदि वह कानून मानने के लिए बाध्य नहीं है। वे दावे जो मान्यताप्राप्त नहीं हैं, थोथे दावे हैं; कानूनी रूप से जो बाध्य नहीं, वे शक्तिहीन दावे हैं। दावे जब समाज द्वारा मान्य हो जाते हैं तो अधिकार बन जाते हैं; वे जब राज्य द्वारा माने जाते और लागू किए जाते हैं तो अधिकार बन जाते हैं।

अधिकार महज दावे नहीं, वे सामाजिक दावे हैं। वे दावे नहीं हैं, परन्तु वे दावों की प्रकृति में ही हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे दावे जो स्वभावतः सामाजिक हैं, सिर्फ वही अधिकार हैं। वहाँ कोई अधिकार (यथा सामाजिक दावे) नहीं जहाँ कोई समाज नहीं। प्रकृति के राज्य में जन्मजात अधिकारों के विषय में बात करना, जैसा कि सामाजिक संविदा सिद्धांत के पक्षधरों ने दावा किया, महज एक मिथ्या नाम प्रयोग है। सामाजिक दावों के रूप में अधिकार अधिकार हैं, क्योंकि वे सामाजिक हैं; समाज में अस्तित्व रखते हैं क्योंकि समाज अस्तित्व में रहता है और क्योंकि सिर्फ समाज ही उन्हें प्रदान करता है तथा समाज इन्हें उनको प्रदान करता है जो उसके सदस्य हैं। अधिकार समाज के सदस्यों के रूप में इन व्यक्तियों को दिए गए सामाजिक दावे हैं और उन कर्तव्यों की अनुक्रिया स्वरूप पुरस्कारों के रूप में होते हैं, जिनका व्यक्तियों ने पालन किया है। अधिकार सामाजिक होते हैं क्योंकि उनके दावे समाज को मजबूत बनाने हेतु आवश्यक होते हैं, और तदनुसार, अधिकार कभी समाज के विरुद्ध नहीं होते हैं। कोई भी समाज-विरुद्ध अधिकार अस्तित्व में नहीं है।

सामाजिक दावों के रूप में अधिकारों को एक और प्रयोजनीय वस्तु रखनी होती है। उन्हें कायम रखना होता है, लागू करना होता है और संरक्षित करना होता है। यहीं राज्य की संस्था के पास निभाने को एक निश्चित भूमिका है। यह समाज ही है, न कि राज्य, जो व्यक्तियों को उनके कर्तव्य पालन कर

लेने के बाद उनके अधिकारों से उन्हें पुरस्कृत करता है। राज्य समाज में उन्हें हर एक को प्रदान कर अधिकारों का ढाँचा कायम रखता है; राज्य व्यक्तियों के अधिकारों को उनके हितों में और कार्यकारी अधिकारियों, अन्य व्यक्तियों व/या व्यक्ति-समूहों द्वारा अतिक्रमणों के विरुद्ध उन्हें संरक्षण प्रदान करता है।

अधिकार सामाजिक दावे हैं; वे शक्तियाँ नहीं हैं। अधिकारों व शक्तियों में भेद करना पड़ता है। प्रकृति ने हर व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि करने हेतु शक्ति की एक निश्चित मात्रा बरखी है। शक्ति एक शारीरिक बल है; यह विशुद्ध ऊर्जा है। मात्र बल के आधार पर अधिकारों की कोई व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती है। यदि किसी व्यक्ति के पास शक्ति है, आवश्यक नहीं कि इसका अर्थ है कि उसके पास अधिकार हैं। समाज के एक सदस्य के रूप में – एक सामाजिक प्राणी के रूप में, उसके पास अधिकार हैं। एक पृथक् व्यक्ति कोई अधिकार नहीं रखता; वह जो रखता/रखती है वह ऊर्जा, शारीरिक बल, व प्रक्रम है। व्यक्तियों के रूप में, हम शक्तियाँ रखते हैं; सामाजिक प्राणियों के रूप में, यथा समाज के सदस्यों के रूप में, हम अधिकार रखते हैं। इसी प्रकार, पृथक् व्यक्तियों के रूप में, हम कोई अधिकार नहीं रखते, और सामाजिक प्राणियों के रूप में, हम कोई भी शक्ति अपनी मर्जी से कुछ भी कहने अथवा कार्य करने या आचरण करने का अधिकार, नहीं रखते।

समाज के सदस्यों के रूप में हमारा अस्तित्व होना मात्र ही हमारे लिए अधिकारों को सुनिश्चित कर देता है। अधिकार जब दूसरों द्वारा इस रूप में मान्यताप्राप्त होते हैं, तभी वे अधिकार होते हैं। वे, उसके बाद, व्यक्तियों हेतु सामाजिक रूप से आवश्यक होने वाली शक्तियाँ होते हैं। हॉबहाउस का उद्धरण है : “अधिकार वे हैं जो हम दूसरों से अपेक्षा करते हैं और दूसरे हम से, साथ ही सभी यथार्थ अधिकार समाज-कल्याण की शर्तें हैं। इस प्रकार वे अधिकार जिनका कि कोई दावा कर सकता है, अंशतः वे हैं जो उस प्रकार्य के परिपालन हेतु आवश्यक हैं जिसकी समाज उससे अपेक्षा करता है। वे उसके सामाजिक दायित्वों द्वारा उसके सहसंबंधी, प्रतिबंधित हैं”।

अधिकार समाज के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों से प्रकट होते हैं। वे इस मान्यता से उभरते हैं कि एक परम कल्याण है जहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित शक्तियों के विकास द्वारा ही पहुँचा जा सकता है।

अधिकार व्यक्तियों के अन्ततोगत्वा मान्यताप्राप्त व विधिसम्मत रूप से कायम सामाजिक दावे हैं। समाज के अतिरिक्त, ऐसे कोई दावे नहीं जिनके लिए व्यक्ति माँग कर सकें। राज्य के अतिरिक्त, ऐसे कोई व्यक्तियों के अधिकार नहीं जिनके संरक्षण की कभी कोई अपेक्षा की जाए। समाज हमें अधिकार प्रदान करता है और राज्य उन्हें संरक्षण प्रदान करता है।

3.2.2 अधिकारों का अर्थ

अधिकार दावे हैं, मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सामाजिक दावे। ये वो हकदारियाँ नहीं हैं जो किसी व्यक्ति के इच्छितार में हैं। प्राचीन एवं मध्यकाल में, कुछ लोग विशेषाधिकारों का उपभोग करने के हकदार थे। परन्तु इन विशेषाधिकारों को कोई भी अधिकारों का नाम नहीं दे सकता था। अधिकार प्राधिकार नहीं हैं, क्योंकि वे हकदारियाँ नहीं हैं। अधिकारों व प्राधिकारों के बीच अन्तर होता है; अधिकार दूसरों पर हमारे दावे हैं, जिस प्रकार हम पर दूसरों के दावे हैं; दूसरी ओर हकदारियाँ कुछ को प्रदत्त और दूसरों को देने से इंकार किए गए विशेषाधिकार हैं। अधिकार इस अर्थ में सार्वत्रिक हैं कि वे सभी के लिए आश्वसित हैं; प्राधिकार सार्वत्रिक नहीं होते क्योंकि वे कुछ ही के पास होते

हैं। अधिकार बिना किसी भेदभाव के सभी को दिए जाते हैं; प्राधिकार कुछ ही को दिए जाते हैं, कुछ चुनिंदा लोगों को ही। अधिकार न्यायपूर्ण दावे की विषयवस्तु के रूप में प्राप्त किए जाते हैं; प्राधिकार संरक्षण की विषयवस्तु के रूप में। अधिकार लोकतांत्रिक समाजों में उत्पन्न होते हैं; प्राधिकार अलोकतांत्रिक पद्धतियों के अभिलक्षण हैं।

अधिकारों की विभिन्न परिभाषाएँ, अधिकार जो है उसके महज एक आंशिक पहलू का ही जिक्र करती हैं। जैफर्सन की यह घोषणा कि मनुष्य अपने सृष्टा द्वारा कुछ निश्चित अहस्तांतरीय अधिकारों से सम्पन्न किए गए हैं, एक ऐसी घोषणा थी जिसने अधिकारों की नैसर्गिकता का संकेत दिया, यथा, मनुष्य अधिकार रखते हैं क्योंकि, वे, प्रकृति से, मानव हैं। यह बात कि आदमी (औरतों को शामिल कर) अधिकार रखते हैं अथवा यह कि उन्हें अधिकार रखने चाहिए, एक ऐसा सत्य है जिसपर कोई भी प्रतिवाद नहीं करेगा। परन्तु यह तथ्य इससे अधिक या कम कुछ भी नहीं कहता। इस तथ्य में कोई परिभाषा नहीं बताई गई है। हॉलैण्ड अधिकारों को इस रूप में परिभाषित करते हैं: "दूसरों के कर्म को प्रभावित करने की एक आदमी की क्षमता, उसकी अपनी शक्ति से नहीं वरन् समाज की शक्ति से।" उनकी परिभाषा अधिकारों का वर्णन समाज द्वारा एक आदमी के सुखी बनाए गए कार्यकलापों के रूप में करती है, जिसका अर्थ है कि हॉलैण्ड अधिकारों का सिर्फ एक सामाजिक दावे के रूप में वर्णन कर रहे हैं। इस बात को कि एक अधिकारों की परिभाषा में अधिकारों के अन्य पहलू भी होते हैं, उचित स्थान नहीं दिया गया है। विल्डे, अधिकारों की अपनी परिभाषा में, सामाजिक दावा पहलू को एक अस्थायी विवेचना देते हैं, जब वह कहते हैं: "एक अधिकार कुछ निश्चित कार्यकलापों के व्यवहार में स्वतंत्रता हेतु एक तर्कसंगत दावा है।" बोसांक व लास्की, अधिकारों की अपनी परिभाषाओं में, समाज, और राज्य व आदमी के व्यक्तित्व की स्थितियों को शामिल करते हैं, परन्तु वे भी 'अधिकारों' के एक भाग के रूप में 'कर्तव्य' के महत्त्वपूर्ण पहलू को नामंजूर करते हैं। बोसांक कहते हैं: 'अधिकार समाज द्वारा मान्यताप्राप्त और राज्य द्वारा लागू किया गया एक दावा होता है।' लास्की के अनुसार, 'अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाएँ हैं जिनके बगैर कोई आदमी, सामान्य रूप से, अपनी अच्छी से अच्छी दशा में होने का प्रयास नहीं कर सकता।'

अधिकारों की एक कारगर परिभाषा में कुछ निश्चित पहलू होने चाहिए। इनमें, *सामाजिक दावा* एक ऐसा दावा है, जिसका अर्थ कि अधिकार समाज में ही जन्म लेते हैं, इसी कारण, समाज से पहले, समाज से ऊपर और समाज विरुद्ध कोई अधिकार नहीं होता। अधिकारों का एक अन्य पहलू है, *'व्यक्तित्व का विकास'* पहलू जिसका अर्थ है कि अधिकार व्यक्ति से संबंध रखते हैं और वे एक महत्त्वपूर्ण अवयव होते हैं जो अमुक के व्यक्तित्व के विकास में मदद करते हैं — इस पहलू में सरकार का विरोध करने हेतु व्यक्ति का अधिकार शामिल है, यदि सरकार का कार्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विपरीत है। अधिकारों की परिभाषा में, इसके अतिरिक्त, अधिकारों के ढाँचे में राज्य की भूमिका जरूर शामिल करनी पड़ती है। यह पहलू इस तथ्य पर जोर डालता है कि राज्य अधिकार प्रदान नहीं करता, वह केवल उन्हें कायम रखता है। लास्की ने कहा कि कोई भी राज्य उन्हीं अधिकारों से पहचाना जाता है जिनको वह कायम रखता है। अधिकार न्यायपूर्ण हक हैं, क्योंकि वे राजनैतिक रूप से मान्यता प्राप्त हैं। अधिकार सामाजिक रूप से स्वीकृत दावे हैं, जहाँ तक कि उनके आगे वे कर्तव्य चलते हैं जो एक व्यक्ति समाज के एक सदस्य के रूप में रखता है। कर्तव्य अधिकारों से पहले आते हैं, न कि उनके बाद। यह बात इस तात्पर्य से है कि कर्तव्य अधिकारों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा यही बात है जो अधिकारों को उनकी प्रकृति व उनके व्यवहार में परिसीमित करती है। कोई अधिकार सम्पूर्ण नहीं होता : सम्पूर्ण अधिकार इस संबंध में एक असंगति हैं। 'स्वतंत्रताओं' के रूप में अधिकारों व 'दावों' के रूप में अधिकारों के बीच अन्तर सामाजिक व राजनैतिक सिद्धांत हेतु एक महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु बन चुका है, जैसा कि रेफैल निश्चयपूर्वक ठीक ही कहते हैं।

3.2.3 अधिकारों की प्रकृति

अभी तक जिस बात पर चर्चा की गई, उसके आधार पर अधिकारों के मूल में क्या निहित है यह जानना प्रत्युत सरल है। अधिकारों की प्रकृति अधिकारों के ही नितांत अभिप्राय में निहित है।

अधिकार सिर्फ दावे नहीं हैं, वे दावों के रूप में हैं। अधिकार दावे हैं, परन्तु सभी दावे अधिकार नहीं होते। अधिकार वे दावे हैं, जो रूप में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। बिना इस मान्यता के, अधिकार खोखले दावे हैं। समाज स्वभावतः संगठित है और कोई भी व्यक्ति जाहिर तौर पर उससे परे कोई अधिकार नहीं रख सकता है जो कि समाज स्वीकार करता है।

अधिकार सामाजिक होते हैं; वे सामाजिक इस अर्थ में हैं कि वे किसी भी प्रदत्त समय—बिंदु पर समाज से ही उत्पन्न होते हैं; वे सामाजिक हैं क्योंकि वे कदापि समाज—विरोधी नहीं होते, न ही हो सकते हैं; वे सामाजिक होते हैं, क्योंकि उनका व्यवहार समाज द्वारा अनुभव किए जाने वाले जन—कल्याण के विरुद्ध नहीं किया जा सकता है।

अधिकार, सामाजिक दावों के रूप में मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा करते हैं। ये परिस्थितियाँ पैदा की जाती हैं; ये बनाई जाती हैं और, ये प्रदान की जाती हैं। राज्य, समाज से भिन्न, इन परिस्थितियों को पैदा और प्रदान करता है तथा बनाता है। राज्य, परिस्थितियों को जन्म देकर, अधिकार को संभव बनाता है। यह, इसीलिए, एक ऐसा आधार प्रदान करता है जहाँ अधिकारों का उपभोग किया जा सके। यह अधिकारों का जन्मदाता ही नहीं है, वरन् अधिकारों का एकमात्र संरक्षक और अभिरक्षक भी है। व्यक्ति विशेष के अधिकारों को 'छीन' लेना राज्य के अधिकार—क्षेत्र में नहीं आता।

व्यक्तियों के विकासाथ आवश्यक परिस्थितियों के तात्पर्य से यदि राज्य अधिकारों को बनाए रखने में विफल रहता है, तो वह उनकी निष्ठा पर अपने दावे का अधिकार खो देता है।

अधिकार उस समाज के प्रति अनुक्रियाएँ हैं जहाँ वे अस्तित्व रखते हैं। अधिकारों की विषयवस्तु एक विशिष्ट समय व स्थान पर समाज की रीति व लोकाचार पर बहुत वृहत् रूप से निर्भर है। जिस प्रकार समाज व उसकी परिस्थितियाँ बदलती हैं, उसी प्रकार अधिकारों की विषयवस्तु भी बदलती है। यह इसी अभिप्राय से है कि हम कहते हैं कि अधिकार परिवर्तनशील हैं। ऐसे किन्हीं अधिकारों की सूची, जो आने वाले सभी कालों हेतु सार्वत्रिक रूप से व्यवहार्य हो, कभी प्रतिपादित नहीं की जा सकती है।

अधिकार उस कार्य के प्रति अनुक्रियाएँ हैं जो हम करते हैं। वे 'लाभों' अथवा 'पुरस्कारों' का स्वभाव लिए होते हैं। वे हमें तब दिए जाते हैं, जब हमने समाज को, दूसरों को कुछ दिया हो। यह उसको 'स्वीकार करने' बाद है, जो हम 'मानते' हैं। अधिकार हमारे कर्तव्यों के लाभ मात्र नहीं हैं; वे, वस्तुतः, हम जो कार्यसंपादन करते हैं उससे संबंध रखता है। अधिकार ही वे प्रतिफल हैं, जो दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों के अनुपालन के प्रत्युत्तर में हमें उनके द्वारा दिए जाते हैं।

अधिकार स्वभावतः सम्पूर्ण नहीं हैं। समाज के सदस्य रूप में व्यक्ति का कल्याण व्यक्ति रूप में उनके अधिकारों व उस समाज के हित के बीच एक समझौते में निहित है, जिससे वे संबंध रखते हैं। एक अधिकारों की सूची में यह तथ्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि ऐसी कोई विषयवस्तु नहीं हो सकती है, जो उच्छृंखल की भाँति ऐसी अप्रतिबद्ध हो कि समाज में अराजकता और गड़बड़ी में सहायक सिद्ध हो।

3.3 अधिकारों की परिकल्पनाएँ

अधिकारों के ऐसे अनेक सिद्धांत हैं जो उनकी प्रकृति, उत्पत्ति और अर्थ स्पष्ट करते हैं। नैसर्गिक अधिकारों की परिकल्पना अधिकारों का वर्णन प्रकृति रूप में करती है; कानूनी अधिकारों की परिकल्पना अधिकारों को विधि-संगत रूप में पहचानती है; अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना अधिकारों को परम्पराओं व प्रथाओं के परिणाम रूप में सुनिर्दिष्ट करती है; आदर्शवादी परिकल्पना, वैध-अधिकार सिद्धांत की ही भाँति, अधिकारों का संबंध सिर्फ राज्य से जोड़ती है; अधिकारों की समाज-कल्याण परिकल्पना अधिकारों को समाज-संबंधी मानती है जो कि व्यक्ति व समाज दोनों के ही हित में व्यवहार किए जाने होते हैं।

अधिकारों का विकास जिस रूप में हम पाते हैं, उसकी शुरुआत बड़ी संकुचित रही : नागरिक अधिकार संविदात्मकतावादियों के सहारे; परम्पराओं के परिणामस्वरूप अधिकार इतिहासवादियों के सहारे; कानून द्वारा विहित अधिकार विधिवेत्ताओं के सहारे; राजनैतिक अधिकार लोकतंत्रवादियों के सहारे; सामाजिक अधिकार समाजशास्त्रियों व बहुवादियों के सहारे; सामाजिक-आर्थिक अधिकार समाजवादियों व मार्क्सवादियों के सहारे; मानव अधिकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिवक्ताओं के सहारे। यह व्याख्या इस बात का अधिसरलीकरण करती है कि हमारे अधिकार क्या हैं और वे हम तक कैसे पहुँचे हैं।

3.3.1 नैसर्गिक अधिकारों की परिकल्पना

नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धांत की वकालत मुख्यतः थॉमस हॉबस (*लिवाइअथन*, 1651), जॉन लॉक (*ट्रू ट्रीटाइसिज ऑन गवर्नमण्ट*, 1690) तथा जे.जे. रूसो (*द सोशल कॉण्ट्रैक्ट*, 1762) द्वारा की गई है। ये संविदात्मकतावादियों ने सामाजिक संविदा सिद्धांत देने के उपरांत, यह दृष्टिकोण अपनाया कि प्राकृत अवस्था में मनुष्यों द्वारा अनुप्राणित नैसर्गिक अधिकार अस्तित्व में थे और ये अधिकार व्यक्तियों में इस रूप में गुणारोपित किए गए थे, मानो वे मनुष्य रूप में मनुष्यों के अनिवार्य गुणधर्म हों। संविदात्मकतावादियों ने, इसी कारण, घोषित किया कि अधिकार अहस्तान्तरीय, अहार्य और अलोप्य हैं।

नैसर्गिक अधिकार सिद्धांत की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। अधिकार मात्र इसलिए नैसर्गिक नहीं हो सकते हैं कि वे प्राकृत अवस्था में मनुष्यों की सम्पत्ति थे। समाज के उदय होने से पूर्व कभी भी कोई अधिकार जन्म नहीं ले सकता : समाज-पूर्व अधिकारों की धारणा इस संबंध में असंगत है। प्राकृत अवस्था में सदैव यदि कुछ रहा तो वे मात्र शारीरिक ऊर्जाएँ थीं, न कि अधिकार। अधिकार अपने संरक्षण हेतु किसी प्राधिकार के अस्तित्व को पहले से ही मानकर चलते हैं। प्राकृत अवस्था में जहाँ किसी राज्य का अस्तित्व नहीं था, एक राज्य की अनुपस्थिति में कोई भला कैसे अधिकारों की कल्पना कर सकता है : प्राकृत अवस्था में लोगों के अधिकारों की रक्षा कौन करता? संविदात्मकतावादियों के पास उत्तर नहीं है। यह कहना कि नैसर्गिक अधिकार प्राकृत अवस्था में अस्तित्व में थे, उन्हें समाज के नियंत्रण से अप्रतिबद्ध अथवा परे रखना है। बैन्थम के अनुसार, नैसर्गिक अधिकारों का सिद्धांत "पैरबॉसों पर खड़ा एक वाग्मितापूर्ण बकवास था।" लास्की भी नैसर्गिक अधिकारों की समस्त धारणा को निरस्त करते हैं। अधिकार, नैसर्गिक अधिकारों के रूप में, मिथ्या कल्पनाओं पर आधारित हैं कि हम समाज से स्वतंत्र रूप से अधिकार व कर्तव्य रख सकते हैं। बुर्के ने यह संकेत किया था, बेशक भावपूर्ण ढंग से ही, जब उसने कहा कि हम एक ही साथ सम्य और

असभ्य राज्य के अधिकारों व उपभोग नहीं कर सकते हैं : नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्ततः जितने निर्दोष होंगे, उतने ही अधिक व्यवहार में पहचानने व मुश्किल होंगे।

अधिकार प्राकृत हैं, और यह नहीं कि नैसर्गिक अधिकार अस्तित्व में हैं, इस अर्थ में कि यही वे शर्तें हैं जो मनुष्य स्वयं को प्रकृतिनिष्ठ करने हेतु चाहता है। लास्की अधिकारों के महत्त्व को स्पष्टतया अनुभव करते हैं, जब वह कहते हैं कि अधिकार "इस अर्थ में प्राकृत नहीं हैं कि उनका एक स्थायी और अपरिवर्तनीय सूचीपत्र बनाया जा सकता है, निःसंदेह वे इस अर्थ में प्राकृत हैं कि एक सभ्य जीवन की मर्यादाओं में रहकर, तथ्य अपनी पहचान की माँग करते हैं।"

3.3.2 विधिसंगत अधिकारों की परिकल्पना

विधिसंगत अधिकारों का सिद्धांत अथवा अधिकारों की कानून-संबंधी परिकल्पना यही भाव जतलाती है। अधिकारों का वह आदर्शवादी सिद्धांत जो अधिकारों को राज्य के परिणाम के रूप में पेश करने की कोशिश करता है, न्यूनाधिक, कानूनी-अधिकार सिद्धांत के एक अन्य नाम से जाना जा सकता है। इस प्रकार की परिकल्पनाओं के पक्षधरों में बैन्थम, हेगेल और ऑस्टिन के नाम लिए जा सकते हैं। उनके अनुसार, अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किए जाते हैं, अधिकारों को एक ऐसा दावा मानते हुए जे कि राज्य-बल जनता को प्रदान करता है। इन परिकल्पनाओं के अनिवार्य लक्षण, तदनुसार, हैं

- राज्य ही अधिकारों का विधेयक परिभाषित करता है और निर्धारित करता है : अधिकार न तो राज्य के पूर्ववर्ती और न ही उसके अग्रवर्ती हो सकते हैं क्योंकि राज्य ही अधिकारों का स्रोत होता है,
- राज्य ही वह कानूनी ढाँचा तय करता है जो अधिकारों का स्रोत होता है और क्योंकि यह राज्य ही है जो अधिकारों के उपभोग पर बल देता है;
- चूँकि कानून ही अधिकारों को जन्म देता है और कायम रखता है, अतः जब विधि की विषयवस्तु बदलती है, अधिकारों का वास्तविक अर्थ भी बदलता है।

उन परिकल्पनाओं की जो ये संकेत करती हैं कि अधिकार राज्य से जन्मे, अनेक तरीकों से भर्त्सना की जाती है। राज्य, वस्तुतः, हमारे अधिकारों की रक्षा करता है और उन्हें संरक्षण देता है; वह उन्हें बनाता नहीं है जैसा कि इन परिकल्पनाओं के पक्षधर हमें विश्वास दिलाते हैं। यदि हम मान लें कि अधिकार राज्य की रचना है, तो हमें यह दृष्टिकोण स्वीकार करना होगा कि यदि राज्य हमें अधिकार प्रदान कर सकता है तो वह इन्हें हमसे छीन भी सकता है। ज़ाहिर है, इस प्रकार का मत राज्य को निरंकुश बनाएगा। ऐसी स्थिति में, हमारे पास सिर्फ वही अधिकार होते जिन्हें राज्य हमें देना चाहता।

3.3.3 अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना

अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना, जिसे 'चिरकालभोगजनित सिद्धांत' भी कहा जाता है, राज्य को एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जन्मा मानती है। इसका दृष्टिकोण यह है कि अधिकार परम्पराओं व प्रथाओं से जन्म लेते हैं। रूढ़िवादी बर्क ने प्रथाविहित सिद्धांत पर जोर देते हुए कहा कि लोग किसी भी ऐसी चीज़ पर अधिकार रखते हैं, जिसका व्यवहार अथवा भोग वे काफी लम्बे समय से निर्बाध रूप से करते आ रहे हैं। अतः माना कि हर अधिकार लम्बे नियम पालन के बल पर टिका है। चूँकि परम्पराएँ व प्रथाएँ अपने अटल व सतत प्रयोग के परिणामस्वरूप दृढ़ होती हैं, वे अधिकार का रूप ले लेती हैं। यह परिकल्पना 18वीं शती में एडमण्ड बर्क के लेखों से उजागर हुई और तदोपरांत समाजशास्त्रियों द्वारा अपना ली गई।

अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना महत्वपूर्ण है जहाँ तक कि यह कानूनी-अधिकार सिद्धांत की निंदा करती है। यह भी महत्वपूर्ण है जहाँ तक कि ये नैसर्गिक-अधिकार सिद्धांत मानने से इंकार करती है। राज्य उसे मान्यता देता है जो (अधिकार शामिलकर) लम्बे प्रयोग के माध्यम से टिकने आता है, ऐसा ऐतिहासिक-अधिकार सिद्धांत के पक्षधरों का कहना है।

अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना अपनी मर्यादाओं से त्रस्त हैं। यह नहीं माना जा सकता है कि हमारे सभी रीति-रिवाज अधिकारों में परिणत हो जाते हैं : सती प्रथा कोई अधिकार स्थापित नहीं करती है और न ही ऐसा शिशुवध करता है। हमारे सभी अधिकारों का मूल रिवाजों में नहीं है। सामाजिक सुरक्षा हेतु अधिकार, उदाहरण के लिए, किसी रिवाज से नहीं जुड़ा है।

3.3.4 अधिकारों की समाज-कल्याण परिकल्पना

अधिकारों का समाज-कल्याण सिद्धांत यह मानता है कि अधिकार ही समाज-कल्याण की शर्तें हैं। इस परिकल्पना का तर्क है कि राज्य को सिर्फ ऐसे अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए जो समाज कल्याण को प्रोत्साहन दें। समाज-कल्याण सिद्धांत के आधुनिक पक्षधरों में, रॉस्को पाउंड व शैफी के नाम का उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि बैथम को इसका 18वीं शती का पक्षधर कहा जा सकता है। इस परिकल्पना का निहितार्थ है कि अधिकार समाज की ही रचना है, ठीक उसी प्रकार जैसे वह जन-कल्याण पर आधारित हैं : अधिकार ही समाज-कल्याण की शर्तें हैं, जिसका मतलब है कि सार्वजनिक कल्याण की समनुरूपता में न किए गए, और इसी कारण, समुदाय द्वारा अमान्य दावे हमारे अधिकार नहीं बनते हैं।

समाज-कल्याण-अधिकार सिद्धांत भी अपनी त्रुटियों से परे नहीं है। यह समाज कल्याण घटक पर ही रहा करता है, एक शब्द जो इतना अस्पष्ट है कि यथातथ्य नहीं हो सकता। बैन्थामाइट सूत्र 'वृहत्तम समूह का वृहत्तम कल्याण' भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न है। यह परिकल्पना ही अधिकारों की विधि संगत परिकल्पना सिद्ध होती है यदि, अंत में, राज्य को ही तय करना है कि 'समाज कल्याण' में क्या-क्या आता है। विल्दे जैसे एक आलोचक का दृष्टिकोण होता है कि 'यदि अधिकार सामाजिक औचित्य के विचार से बनाए जाते हैं, व्यक्ति अभ्यर्थनारहित होता है और असहाय रूप से अपनी यादृच्छिक इच्छा पर निर्भर रहता है।'

3.3.5 अधिकारों की मार्क्सवादी परिकल्पना

मार्क्सवादी-अधिकार सिद्धांत इतिहास के काल-विशेष में आर्थिक व्यवस्था के शब्दों में समझा जाता है। एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना अधिकारों की एक विशिष्ट व्यवस्था रखती है। राज्य, चूंकि आर्थिक रूप से प्रबल वर्ग के हाथों में एक हथियार होता है, स्वयं ही एक सामाजिक-क्रम संस्था है और वह कानून जो यह बनाती है, भी एक संवर्ग संहिता होता है। ऐसा माने जाने पर, सामन्ती राज्य, सामन्तिक कानूनों के माध्यम से सामन्ती व्यवस्था का पक्ष लेते हुए इस अधिकार-व्यवस्था (विशेषाधिकार, उदाहरणार्थ) को संरक्षण देता है। इसी प्रकार, पूँजीवादी राज्य, पूँजीवादी कानूनों के माध्यम से, पूँजीवादी व्यवस्था का पक्ष लेते हुए इस अधिकार-व्यवस्था को संरक्षण देता है। एक संवर्ग समाज में सभी के लिए अधिकार सुनिश्चित करना, मार्क्सवादियों का तर्क है, संवर्ग राज्य का ध्येय नहीं होता; प्रत्युत उसका उद्देश्य होता है, आर्थिक सत्ता को काम में लाने वाले सामाजिक क्रम के हितों को संरक्षण और प्रोत्साहन देना। मार्क्स के अनुसार, वह सामाजिक वर्ग जो समाज के आर्थिक ढाँचे पर

नियंत्रण रखता है, राजनीतिक सत्ता पर भी नियंत्रण रखता है और वह अपनी शक्ति को सभी के हितों की बजाय अपने ही निजी हितों को संरक्षण व प्रोत्साहन देने में प्रयोग करता है। उस समाजवादी समाज में जो पूँजीवादी समाज का अनुसरण करता है, जैसा कि मार्क्सवादी ढाँचा सुझाता है, समाजवादी राज्य, सर्वहारा कानूनों के माध्यम से, कामगार वर्ग के हितों/अधिकार को संरक्षण व प्रोत्साहन देगा। चूँकि समाजवादी समाज, पूँजीवादी समाज से भिन्न, एक वर्गहीन समाज है, उसका राज्य और कानून किसी वर्ग विशेष के नहीं बल्कि उस वर्गहीन समाज में रहने वाले सभी लोगों के अधिकारों की रक्षा करते हैं। मार्क्सवादी कहते हैं कि समाजवादी राज्य ही, सामाजिक व राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन के एक हथियार के रूप में, उस समाजवाद को स्थापित करने का प्रयास करेगा जो 'हर कोई अपनी योग्यता से, हर कोई अपने कार्यानुसार' के सिद्धांत पर आधारित हो, सभी के लिए अधिकार-व्यवस्था इस प्रतिमान का अनुसरण करे : आर्थिक अधिकार (काम, सामाजिक सुरक्षा) सबसे पहले, उसके बाद सामाजिक अधिकार (शिक्षा) व राजनीतिक अधिकार (नागरिकता अधिकार)।

मार्क्सवादी-अधिकार सिद्धांत, स्वयं मार्क्सवाद की भाँति, अपनी नियतिवादी विचारधारा से ग्रसित है, यद्यपि उसके द्वारा गैर-शोषणकारी समाजवादी व्यवस्था पर जोर दिया जाना उसकी चारित्रिक विशेषता है। न तो आर्थिक घटक ही अकेले समाज की नींव प्रदान करता है, न ही यह अधिरचना ही सिर्फ आर्थिक आधार का प्रतिबिम्ब मात्र है; क्योंकि गैर-आर्थिक बल भी अधिरचना को निर्धारित करने में अपनी भूमिका निभाते हैं।

3.4 अधिकारों का गठन (FRAMEWORK)

अधिकार ही मानव व्यक्तित्व की अनिवार्य शर्तें हैं। मानव व्यक्तित्व का विकास व्यक्तियों को उपलब्ध अधिकार-व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। भिन्न राज्य व्यवस्थाएँ भिन्न अधिकारों को मान्यता देती हैं: अमरीकियों को मुहैया अधिकार भारतीयों को उपलब्ध अधिकारों से भिन्न होंगे। एक उदारचरित-लोकतंत्रवादी समाज किसी समाजवादी समाज की तुलना में भिन्न अधिकारों को प्रमुखता देगा। यही कारण है कि हम अधिकारों का एक वर्गीकरण करके रखते हैं : नैतिक व कानून-संबंधी, नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक में विधिसंगत। देश विशेष के संविधान में समाविष्ट अधिकार मूलभूत अधिकार कहे जाते हैं।

अधिकार, चूँकि मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक मौलिक शर्तें हैं, वे सभी राज्यों की व्यक्तियों को मुहैया कराने होते हैं। मानवाधिकारों की संयुक्त-राष्ट्र घोषणा स्वतंत्र राष्ट्रों को अपनी-अपनी प्रजा हेतु मान्यता देने व कायम रखने हेतु एक प्रेरणा व कार्यसूची के रूप में व्यवहार करती है।

3.4.1 जनसाधारण के अधिकार

जनसाधारण को उपलब्ध मुख्य अधिकारों का एक आम ढाँचा, संक्षिप्ततः, निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

जीवन का अधिकार एक मौलिक अधिकार है, जिसके बगैर अन्य सभी अधिकार अर्थहीन हैं। इस अधिकार का अर्थ है कि राज्य जीवन के संरक्षण, किसी भी क्षति के विरुद्ध रक्षा की गारण्टी देता है: यहाँ तक कि आत्महत्या भी एक अपराध माना जाता है।

समानता का अधिकार अनेक पहलू रखता है : कानून के समक्ष समानता, कानून का समान संरक्षण किसी भी प्रकार के भेदभाव की मनाही : सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक। रक्षात्मक भेदभाव जैसा कि भारतीय संविधान में पोषित है, समानता हेतु अधिकार का एक अभिन्न भाग है।

स्वतंत्रता का अधिकार, समानता के अधिकार की भाँति, अनेक पहलू रखता है : भाषण की, प्रेस की, सभा की, संघ की, आन्दोलन की, निवास की, किसी व्यवसाय को अपनाने की स्वतंत्रता। इन स्वतंत्रताओं का व्यवहार तर्कसंगत प्रतिबंधों में ही किया जाना होता है, यही बात संविधान द्वारा भारतीयों को प्रदत्त इस अधिकार की चरित्रगत विशेषता है।

धर्म, विवेक, आस्था की स्वतंत्रता का अधिकार व्यक्तियों को उपलब्ध एक अन्य अधिकार है। धर्म एक आस्था व व्यक्ति के अन्तर्मन की आवाज़ का विषय है और यथावत वर्तमान राज्यों में नागरिकों को प्रदत्त है। यह अधिकार धर्मनिरपेक्षता को कम नहीं करता है, जहाँ तक कि धर्म को किसी व्यक्तिगत वस्तु के रूप में लिया जाता है और धर्म व जनजीवन के आपस में मिलने नहीं दिया जाता है।

शिक्षा का अधिकार एक अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकार है, जिसके बगैर मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास असंभव हो जाता है। एक अशिक्षित व्यक्ति सार्थक जीवन नहीं चला सकता। अशिक्षा, चूँकि एक सामाजिक अभिशाप है, घटाई जानी/ दूर की जानी चाहिए। राज्य ही को शिक्षा को बढ़ावा देने का दायित्व उठाना चाहिए।

कुछ निश्चित आर्थिक अधिकारों में शामिल हैं – काम का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार तथा विश्राम व अवकाश। काम के साथ और बिना भौतिक सुरक्षा के, एक व्यक्ति अन्य अधिकारों का सुख भोगने में असमर्थ रहता है। सम्पत्ति का अधिकार भी एक आर्थिक अधिकार है, जिसका अर्थ है सम्पत्ति रखने और उत्तराधिकारी-रूप में उसे प्राप्त करने का अधिकार। इसको उदारचरित-लोकतंत्रों में एक महत्त्वपूर्ण अधिकार के रूप में लिया जाता है।

व्यक्तियों के कुछ राजनीतिक अधिकार भी होते हैं। यही वो अधिकार हैं, जो व्यक्तियों को पूर्ण-विकसित नागरिक बनाते हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं – वोट देने, चुनाव लड़ने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने, राजनीतिक दल बनाने का अधिकार।

भारतीय संविधान अपने नागरिकों को अधिकारों की सूची प्रदान करता है। इनको मौलिक अधिकार कहा जाता है और इनमें शामिल हैं – समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक व शैक्षणिक अधिकार तथा सांवैधानिक उपचारों का अधिकार – अन्तिम एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है, जहाँ तक कि यह अधिकार अन्य सभी अधिकारों के गारण्टियों को सुनिश्चित करता है।

उदारवादी-लोकतांत्रिक प्रणालियाँ सामाजिक अधिकारों से ऊपर राजनीतिक अधिकारों की, और आर्थिक के ऊपर सामाजिक अधिकारों की प्रमुखता सुनिश्चित करती हैं। समाजवादी समाजों में यह क्रम उल्टा है : आर्थिक अधिकार, सामाजिक अधिकार व राजनीतिक अधिकार। एक उदारचरित लोकतंत्रवादी के लिए, स्वतंत्रता का अधिकार समानता के अधिकार से अधिक महत्त्वपूर्ण है; सम्पत्ति का अधिकार काम के अधिकार से अधिक महत्त्वपूर्ण है; आर्थिक सुरक्षा आर्थिक समानता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक अधिकार, ऐसे समाजों में सम्पत्ति-रक्षा के, निजी सम्पत्ति व्यवस्था ढाँचे के भीतर कारगर समानता, नियोक्ता द्वारा शोषण न किए जाने, बेरोज़गारी भत्ते के अधिकार तक परिसीमित हैं।

समाजवाद विशिष्ट समाजों में, काम का अधिकार शिक्षा के अधिकार से ऊपर है; शिक्षा का अधिकार स्वतंत्र राय रखने के अधिकार से ऊपर है।

3.4.2 लास्की की अधिकार-परिकल्पना

हैरॉल्ड लास्की (1893-1950), इंग्लिश लेबर पार्टी के एक सिद्धांती और अपने ही स्वत्व में एक राजनीति-वैज्ञानिक के अधिकार व्यवस्था पर अपना निश्चित दृष्टिकोण रखते हैं, जैसा कि उनके *ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स* (सर्वप्रथम 1925 में प्रकाशित और उसके बाद लगभग हर दूसरे वर्ष संशोधित) में प्रतिपादित है।

प्राकृत अधिकारों पर लास्की के विचार निम्न प्रकार हैं : (i) वे समाज के सदस्य रूप में व्यक्ति को प्रदत्त सामाजिक शर्तें हैं; (ii) वे वैयक्तिक व्यक्तित्व, उसका सर्वोत्तम-स्वयं को बढ़ाने में मदद करते हैं : 'वे सामाजिक शर्तें जिनके बिना कोई भी मनुष्य अपना सर्वोत्तम स्वयं होने का प्रयास नहीं कर सकता'; (iii) वे सामाजिक हैं क्योंकि वे कभी समाज-कल्याण विरुद्ध नहीं होते; समाज के उदगमन पूर्व वे नहीं होते थे; (iv) राज्य अधिकारों को कायम रखकर सिर्फ मान्यता और संरक्षण देता है; (v) अधिकार कभी सम्पूर्ण असीम नहीं होते : असीम अधिकार शब्दतः व्याघात हैं; (vi) स्वभावतः वे परिवर्तनशील हैं जहाँ कि उनकी विषयवस्तु स्थान, काल व परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है; (vii) वे कर्तव्यों के साथ चलते हैं; वस्तुतः कर्तव्य अधिकारों से पहले हैं; अधिकारों का व्यवहार कर्तव्यों के व्यवहार का द्योतक है।

यदि लास्की व्यक्ति को अधिकार देते तो वह अधिकार इस क्रम में देते : काम का अधिकार, उचित वेतन भुगतान किए जाने का अधिकार, श्रम के तर्कसंगत घण्टों का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, अपने शासक चुनने का अधिकार, तदोपरांत अन्य अधिकार। लास्की का तर्क है कि सर्वप्रथम आर्थिक अधिकार प्रदान किए बिना, कोई भी व्यक्ति अपने राजनीतिक अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता: आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है : 'जहाँ विशाल असमानताएँ होती हैं, मनुष्यों के बीच संबंध मालिक और गुलाम की मानिंद होता है। समान रूप से महत्त्वपूर्ण, पर क्रम में नीचे है शिक्षा का अधिकार : शिक्षा अकेले ही एक व्यक्ति को इन दूसरे अधिकारों का उचित रूप से प्रयोग करने में सहायता करती है। व्यक्ति के व्यवस्थापन में आर्थिक व सामाजिक (शिक्षा अधिकार) के सहारे, व्यक्ति की कहीं अधिक संभावना है कि वह अपने राजनीतिक अधिकार सही गाम्भीर्य में व्यवहार करे'।

3.4.3 मानवाधिकारों की परिकल्पना

एस. रामफल ने बहुत सही कहा है कि मानव अधिकार मनुष्यों से नहीं जन्मे थे, प्रत्युत उनके साथ जन्मे थे। वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों के प्रतिफल रूप में इतने नहीं हैं जितने कि मौलिक मानव प्रतिष्ठा से उद्भूत वस्तुओं के रूप में। वे मानव अधिकार हैं, क्योंकि वे मनुष्य मात्र के साथ मनुष्य रूप में ही हैं।

मानवाधिकारों को सामान्यतया उन अधिकारों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो हमारी प्रकृति में अन्तर्निहित हैं और जिनके बिना हम मनुष्य रूप में नहीं रह सकते हैं। वे अनिवार्य हैं, क्योंकि वे हमें अपनी मानसिक शक्ति, प्रतिभाओं व क्षिप्रग्राहिता को प्रयोग करने व विकसित करने में मदद करते हैं। वे स्वयं को मानवजाति की एक ऐसे जीवन हेतु बढ़ती माँग पर आधारित करते हैं, जिसमें

प्रत्येक मनुष्य की अन्तर्भूत प्रतिष्ठा और योग्यता को केवल संरक्षण ही नहीं, वरन् सम्मान भी प्राप्त होगा।

मानव अधिकार सभी संगठनों के मूल में निहित हैं। वे संपूर्ण संयुक्त-राष्ट्र घोषणा-पत्र में व्याप्त हैं। संयुक्त-राष्ट्र घोषणा-पत्र की प्रस्तावना में, मौलिक मानवाधिकारों में, मानव व्यक्ति की प्रतिष्ठा व योग्यता में, पुरुषों व स्त्रियों तथा राष्ट्रों, छोटे व बड़े, के समान अधिकारों में आस्था दृढ़ करने का एक निश्चय है। घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 13, 55, 62, 68 76 में मानवाधिकारों हेतु सार्वत्रिक सम्मान के प्रोत्साहन का उल्लेख है।

संयुक्त-राष्ट्र आर्थिक व सामाजिक परिषद् के तहत कार्यरत मानवाधिकार आयोग ने, रूज़वेल्ट की अध्यक्षता में रहकर लगभग ढाई वर्ष बिताने के बाद, जो प्रारूप तैयार किया उसे 'मानवाधिकारों की सार्वत्रिक घोषणा' कहा जाता है। 10 दिसम्बर, 1948 को जब संयुक्त-राष्ट्र महासभा ने इस घोषणा को स्वीकृति दी, इस दिन को 'मानवाधिकार दिवस' के रूप में मनाया जाने लगा।

उन तीस अनुच्छेदों में जो मानवाधिकारों की घोषणा का एक भाग हैं, अनुच्छेद 3 से 15 तक पारम्परिक अधिकारों की एक सूची है। इन अधिकारों में शामिल हैं : जीवन का, स्वतंत्रता का, सुरक्षा का, यादृच्छिक गिरफ्तारी से आज़ादी का, किसी मुकदमे की निष्पक्ष सुनवाई का, कानून के समान संरक्षण का, आन्दोलन की स्वतंत्रता का, राष्ट्रीयता का, आश्रय पाने आदि का अधिकार।

अन्य महत्वपूर्ण अधिकार भी हैं जो अनुच्छेद 16 व 21 में दिए गए हैं। इनमें शामिल हैं : पुरुषों व महिलाओं को समान अधिकार, विवाह करने का, परिवार बसाने का, सम्पत्ति का, मौलिक स्वतंत्रताओं जैसे विचार व अभिव्यक्ति का, शांतिपूर्ण सभा व संघ के साथ-साथ व्यक्ति के अपने देश की सरकार में हिस्सेदारी का अधिकार।

अनुच्छेद 22 से 27 में आर्थिक अधिकार स्थापित हैं। इनमें शामिल हैं : काम का अधिकार, बेरोजगारी के विरुद्ध रक्षण, न्यायसंगत पारिश्रमिक, मज़दूर यूनियन बनाने का अधिकार, विश्राम व अवकाश लेने का अधिकार, उचित जीवन-स्तर का, शिक्षा व देश के सांस्कृतिक जीवन में भागीदारी का अधिकार।

अनुच्छेद 28, 29, 30 सामाजिक / अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था, समुदाय के प्रति कर्तव्य जिनमें रहकर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का मुक्त व स्वतंत्र विकास संभव है, तथा तदनुसार इन अधिकारों की गारण्टियाँ सुनिश्चित करते हैं।

मानवाधिकारों की सार्वत्रिक घोषणा ही मानवाधिकारों के अन्तरराष्ट्रीय विधेयक का सर्वप्रथम खण्ड है। इसके बाद हैं - आर्थिक, सांस्कृतिक व सामाजिक अधिकारों पर अन्तरराष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, नागरिक व राजनैतिक अधिकारों पर अन्तरराष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र तथा वैकल्पिक नयाचार - सभी 1966 में अंगीकृत।

3.5 सारांश

अधिकार मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सामाजिक दावे हैं। ये व्यक्तियों से संबंध रखते हैं और वे ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करते हैं जिनके बिना वे स्वयं अस्तित्व में होने का प्रयास नहीं कर सकती हैं। वे सामाजिक होते हैं : समाज प्रदत्त और राज्य द्वारा सुरक्षित। राज्य भी व्यक्तियों से उन्हें नहीं छीन सकता। वे समाज-विकास के विशिष्ट चरण को प्रतिबिम्बित करते हैं। जिस प्रकार समाज

बदलता है, उसी प्रकार अधिकारों की प्रकृति व विषय-वस्तु बदलती है। अधिकार-संबंधी परिकल्पनाएँ उनके अभिप्रायों, उत्पत्ति व प्रकृति विषयक आंशिक उपचार को प्रकट करती हैं। प्राकृत-अधिकार परिकल्पना वहाँ तक सही है जहाँ तक यह इस तथ्य पर जोर डालती है कि अधिकार नैसर्गिक हैं क्योंकि वे सामाजिक दावों का स्वभाव लिए हैं। इसी प्रकार, अधिकारों की कानून-संबंधी परिकल्पना सत्य ही कहती है जहाँ तक कि यह राज्य को हमारे अधिकारों का जामिनदार बनाती है।

अधिकार अनेक प्रकार के होते हैं। वे अधिकार जो मानवमात्र को उपलब्ध हैं, उनमें सम्मिलित हैं जीवन का अधिकार, समानता, व्यक्ति व सम्पत्ति की सुरक्षा का, स्वतंत्रता, शिक्षा, काम, धार्मिक स्वतंत्रता, वोट देने का, सार्वजनिक पदग्रहण का अधिकार। उदारवादी-लोकतांत्रिक समाज आर्थिक व सामाजिक बजाय व्यक्तिगत व राजनैतिक अधिकारों पर अधिक जोर देते हैं। समाजवादी समाज अधिकारों के विपरीत क्रम-व्यवस्था की वकालत करते हैं।

लास्की, वामपंथ की ओर झुकते एक उदारवादी के रूप में, अधिकारों को वैयक्तिक विकास हेतु अनिवार्य मानते हैं, परन्तु आर्थिक अधिकार तदोपरान्त सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्रदान करते हैं।

संयुक्त-राष्ट्र मानवाधिकार घोषणा मानवमात्र को मानवमात्र के रूप में उपलब्ध मौलिक अधिकार संबंधी एक सूची की व्यवस्था देती है।

3.6 अभ्यास

1. 'अधिकारों' से आप क्या समझते हैं? अधिकार, शक्ति, दावे व हकदारियों के बीच अंतर स्पष्ट करें।
2. अधिकारों की विभिन्न परिकल्पनाओं का संक्षेप में वर्णन करें।
3. आधुनिक नागरिकों को उपलब्ध अधिकारों का उल्लेख करें।
4. हैरॉल्ड लास्की की अधिकार-संबंधी परिकल्पना पर चर्चा करें।
5. मानवाधिकारों की संयुक्त-राष्ट्र घोषणा पर एक विवरणात्मक निबंध लिखें।